नईदुनिया

संपादकीय

ढलान पर माओवाद, अब विकास की राह चुनेगा

छत्तीसगढ़ के बस्तर, दंतेवाड़ा, सुकमा और नारायणपुर जैसे जिलों का नाम सुनते ही बरसों से बंदूक, बारूद और हिंसा की तस्वीर उभरती थी। पर अब यह तस्वीर बदल रही है। एक समय था जब इन इलाकों में सुरक्षा बलों की गाड़ियां भी दिन में निकलने से कतराती थीं और विकास कार्यों की कल्पना भी कठिन थी। आज वही बस्तर, जिसे माओवादियों का गढ़ माना जाता था, वहां सड़कें बन रही हैं, स्कूल खुल रहे हैं, मोबाइल टावर लग रहे हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि आदिवासी युवा अब बंदूक नहीं, कलम थाम रहा है। यह बदलाव अचानक नहीं आया है। यह वर्षों की रणनीति, सुरक्षा बलों के धैर्य और सरकार की विकासोन्मुख नीतियों का परिणाम है।

माओवाद ने मध्य भारत के बड़े हिस्से को लंबे समय तक हिंसा की आग में झोंक दिया था। छत्तीसगढ़, झारखंड, ओडिशा, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के जंगल माओवादियों की शरणस्थली बने रहे। नारायणपुर में 210 माओवादियों के आत्मसमर्पण और हथियार डालने की घटना केवल एक खबर नहीं, बल्कि एक युग के अंत का संकेत है। जब इतने प्रशिक्षित कैडर एक साथ हथियार छोड़ देते हैं तो इसका अर्थ है कि हिंसा का रास्ता अब आकर्षक नहीं रहा। माओवादी भी समझ गए हैं कि बंदूक से समाज नहीं बदला जा सकता। बदलाव की असली ताकत वोट, शिक्षा, सड़क और रोजगार से आती है।

सुरक्षा बलों ने पिछले कुछ वर्षों में जो अभियान चलाए, उन्होंने माओवाद की रीढ़ तोड़ दी। बड़े कैडरों को निष्क्रिय किया गया और उनके नेटवर्क को ध्वस्त किया गया। लेकिन केवल बंदूक के बल पर माओवाद समाप्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए सरकार ने दोहरी रणनीति अपनाई - एक हाथ में सुरक्षा और दूसरे हाथ में विकास। बस्तर में बन रही सड़कें केवल डामर और कंक्रीट की नहीं, बल्कि विश्वास की सड़कें हैं। जो स्कूल खुल रहे हैं, वे केवल भवन नहीं, बल्कि भविष्य की नींव हैं। मोबाइल कनेक्टिविटी पहुंचने से आदिवासी किसान अपनी उपज का उचित मूल्य जान पा रहा है और महिला स्व-सहायता समूह आर्थिक रूप से सशक्त हो रहे हैं।

माओवाद वहीं पनपता है जहां राज्य की उपस्थिति कमजोर होती है। जहां स्कूल नहीं होते, वहां नक्सली अपना प्रभाव स्थापित करते हैं। जहां अस्पताल नहीं होते, वहां वे विकल्प बनने की कोशिश करते हैं। जहां रोजगार नहीं होता, वहां युवाओं को बंदूक थमा दी जाती है। लेकिन जब शासन व्यवस्था गांव तक पहुंचती है तो माओवाद की जमीन अपने आप सिकुड़ने लगती है। नारायणपुर इसका उदाहरण है। आज यहां प्रधानमंत्री आवास योजना के घर बन रहे हैं, आयुष्मान योजना के तहत इलाज हो रहा है और वनाधिकार पट्टों से आदिवासी अपनी जमीन का मालिक बन रहा है।

अब सबसे बड़ी चुनौती इस सफलता को स्थायी बनाना है। बस्तर में जो सड़कें बनी हैं, उनका रखरखाव हो। स्कूलों में योग्य शिक्षक पहुंचें। इंटरनेट और संचार सुविधाएं बेहतर हों। आदिवासी उत्पादों को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय बाजार मिले। साथ ही विकास के नाम पर आदिवासियों के अधिकारों की अनदेखी न हो। बस्तर का परिवर्तन भारत के लिए एक महत्वपूर्ण संदेश है कि समस्याओं का समाधान केवल सुरक्षा नहीं, बल्कि विकास और विश्वास के रास्ते से भी निकलता है। माओवाद इसलिए ढलान पर है क्योंकि अब आदिवासी समाज ने तय कर लिया है कि उसके बच्चों का भविष्य बंदूक नहीं, बल्कि शिक्षा और अवसर लिखेंगे। यही लोकतंत्र की सबसे बड़ी जीत है, जहां संविधान ने हिंसा पर विजय प्राप्त की है।

आजकल

तेल के दाम से घबराती अर्थव्यवस्था ईवी की ओर मुड़ रही

ईरान-इजराइल संघर्ष ने भारत की ऊर्जा सुरक्षा पर गंभीर सवाल खड़े कर दिए हैं। तेल और गैस के दाम बढ़ते ही भारतीय अर्थव्यवस्था की धड़कन तेज हो जाती है। इसका कारण स्पष्ट है। भारत अपनी जरूरत का लगभग 85 प्रतिशत कच्चा तेल और 50 प्रतिशत गैस आयात करता है। होर्मुज जलडमरूमध्य पर तनाव बढ़ने का सीधा असर तेल की कीमतों पर पड़ता है। तेल महंगा होते ही पेट्रोल-डीजल की कीमतें बढ़ती हैं, परिवहन लागत बढ़ती है और महंगाई का दबाव पैदा होता है। यही कारण है कि ऊर्जा सुरक्षा अब राष्ट्रीय सुरक्षा का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुकी है।

पिछले कुछ वर्षों में भारत ने तेल पर निर्भरता कम करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम बढ़ाए हैं। एक ओर जैव ईंधन, इथेनॉल मिश्रण और ग्रीन हाइड्रोजन पर काम हो रहा है, तो दूसरी ओर इलेक्ट्रिक वाहनों की मांग तेजी से बढ़ रही है। कुछ वर्ष पहले तक ईवी को महंगा विकल्प माना जाता था, लेकिन अब कई कंपनियां अपेक्षाकृत किफायती मॉडल बाजार में उतार रही हैं। चार्जिंग स्टेशन बढ़ रहे हैं, बैटरी की रेंज बेहतर हुई है और चार्जिंग का समय भी कम हुआ है। बढ़ती ईंधन कीमतों के बीच उपभोक्ता स्वाभाविक रूप से ईवी की ओर आकर्षित हो रहा है।

भारत ने पिछले पांच दशकों में कई तेल संकट देखे हैं। हर बार महंगाई और आर्थिक दबाव बढ़ा, लेकिन इस बार विकल्प मौजूद हैं। सरकार ने 2030 तक इलेक्ट्रिक वाहनों का दायरा बढ़ाने का लक्ष्य रखा है। इससे तेल आयात पर निर्भरता घटेगी और प्रदूषण भी कम होगा। हालांकि चुनौतियां भी हैं। बैटरी निर्माण के लिए आवश्यक खनिजों की उपलब्धता सीमित है और चार्जिंग ढांचा अभी पर्याप्त नहीं है। इन कमियों को दूर करना जरूरी है। तेल का दौर अभी समाप्त नहीं हुआ है, लेकिन उस पर अत्यधिक निर्भरता का दौर अवश्य ढलान पर है। ईरान-इजराइल संघर्ष ने फिर याद दिलाया है कि ऊर्जा आत्मनिर्भरता ही आर्थिक स्वतंत्रता की सबसे मजबूत आधारशिला है।

कथनी की उड़ान, करनी की जमीन पर अटकी

आधी आबादी को दस प्रतिशत की छत

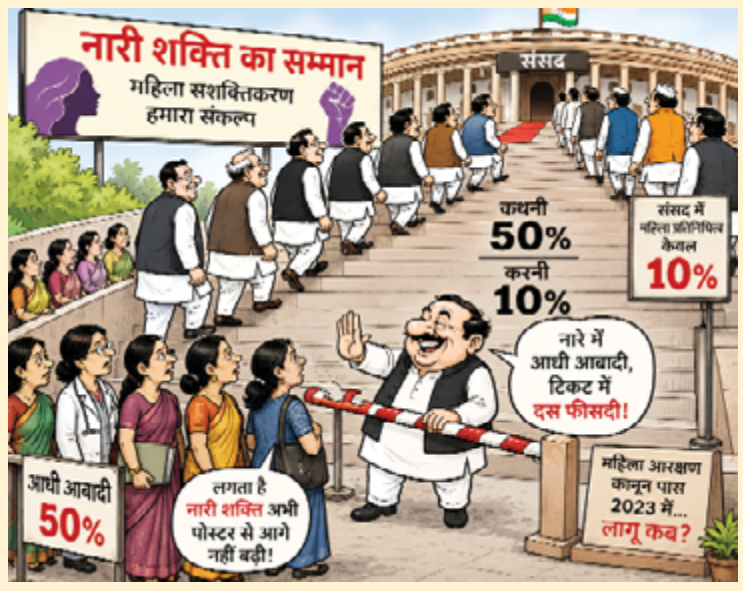

यह आंकड़ा किसी एक दल का नहीं है। भाजपा, कांग्रेस, सपा, बसपा और आप सहित सभी प्रमुख दलों का औसत 9 से 13 प्रतिशत के बीच ही रहा है। कथनी और करनी का अंतर संगठन के भीतर और गहरा दिखाई देता है। हर राजनीतिक दल के संविधान में महिलाओं को 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने का दावा दर्ज है, पर जमीनी हकीकत अलग है।

लोकतंत्र का गणित सीधा है- जितनी आबादी, उतना प्रतिनिधित्व। पर भारत की राजनीति इस गणित को हर चुनाव में तोड़ देती है। देश की आधी आबादी महिलाएं हैं, पर सदन की कुर्सियों तक उनकी पहुंच आज भी दस प्रतिशत की लक्ष्मण रेखा पार नहीं कर पाई है। मंचों से नारी शक्ति के नारे गूंजते हैं, महिला सशक्तिकरण का संकल्प दोहराया जाता है, बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ से लेकर नारी वंदन तक के वादे किए जाते हैं, पर जब टिकट वितरण की सूची जारी होती है तो तथ्य एक कठोर आईना दिखा देते हैं। वह आईना बताता है कि राजनीतिक दलों की कथनी आसमान छूती है और करनी जमीन पर रेंगती है।

तथ्य बोलते हैं और तथ्य झूठ नहीं बोलते। 2024 के लोकसभा चुनाव में कुल 39,789 उम्मीदवार मैदान में थे। इनमें महिला उम्मीदवारों की संख्या केवल 4,073 रही, यानी कुल उम्मीदवारों का 10.2 प्रतिशत। 543 सीटों वाली लोकसभा में चुनी गई महिला सांसदों की संख्या 74 रही, जो सदन का 13.6 प्रतिशत है। राज्यसभा के 245 सदस्यों में महिला सदस्यों की संख्या लगभग 30 है, यानी करीब 12 प्रतिशत। विधानसभा की तस्वीर और भी धुंधली है। 20 राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों के विधानसभा चुनावों में 8,360 उम्मीदवारों में सिर्फ 800 महिलाएं थीं, जो 9.6 प्रतिशत है। चुनी गई महिला विधायकों का औसत 10 से 12 प्रतिशत के बीच सिमटा हुआ है। इसका अर्थ है कि 50 प्रतिशत आबादी का प्रतिनिधित्व करने के लिए विधायिकाओं में जगह दसवें हिस्से से भी कम है।

यह आंकड़ा किसी एक दल का नहीं है। भाजपा, कांग्रेस, सपा, बसपा और आप सहित सभी प्रमुख दलों का औसत 9 से 13 प्रतिशत के बीच ही रहा है। कथनी और करनी का अंतर संगठन के भीतर और गहरा दिखाई देता है। हर राजनीतिक दल के संविधान में महिलाओं को 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व देने का दावा दर्ज है, पर जमीनी हकीकत अलग है। प्रदेश अध्यक्ष, जिला अध्यक्ष, राष्ट्रीय प्रवक्ता, चुनाव समिति, टिकट वितरण और स्क्रीनिंग कमेटी जैसे फैसले लेने वाले पदों पर महिलाओं की उपस्थिति नगण्य है। महिला मोर्चा हर दल में है, पर उसका काम प्रायः रैलियों में भीड़ जुटाना और नारे लगवाना भर रह गया है। नीति बनाने का अधिकार, बजट तय करने की ताकत और टिकट वितरण में निर्णायक भूमिका उसे नहीं मिलती। परिणाम यह है कि महिला पार्टी में कार्यकर्ता तो बन जाती है, पर निर्णयकर्ता नहीं बन पाती।

महिला आरक्षण कानून 2023 में संसद से पारित हो चुका है। इसके अनुसार लोकसभा और राज्य विधानसभाओं में महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण मिलेगा। कानून पारित होने पर सभी दलों ने इसका स्वागत किया, तालियां बजीं और भाषण हुए, पर उसी वर्ष हुए चुनावों में किसी भी राष्ट्रीय दल ने 33 प्रतिशत टिकट नहीं दिए। कानून लागू होने में अभी समय है, लेकिन दलों के पास दशकों का अवसर था कि वे स्वेच्छा से इस लक्ष्य को हासिल कर उदाहरण प्रस्तुत करते। किसी ने ऐसा नहीं किया। यह बताता है कि कानून का दबाव न हो तो राजनीतिक इच्छाशक्ति कमजोर पड़ जाती है।

दलों के पास जो तर्क हैं, वे आंकड़ों से मेल नहीं खाते। पहला तर्क यह दिया जाता है कि योग्य महिला उम्मीदवार नहीं मिलतीं। जबकि पंचायत से लेकर संसद तक का अनुभव इसका उलटा कहता है। देश में लाखों महिला पंचायत प्रतिनिधि गांवों की सड़कों, पानी, स्कूल और स्वास्थ्य जैसी व्यवस्थाओं पर काम कर रही हैं। डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, प्रोफेसर और सामाजिक कार्यकर्ता बड़ी संख्या में मौजूद हैं, पर उनकी फाइलें दलों की स्क्रीनिंग कमेटियों तक नहीं पहुंचतीं। दूसरा तर्क जीत की संभावना का दिया जाता है। महिलाओं को अक्सर कमजोर या हारने वाली सीटें दी जाती हैं ताकि आंकड़ों में उनका नाम शामिल हो जाए, पर जीत की संभावना कम रहे। जबकि चुनावी विश्लेषण बताते हैं कि जहां महिलाओं को मजबूत समर्थन और उपयुक्त सीटें मिलीं, वहां उनका प्रदर्शन पुरुष उम्मीदवारों के बराबर या कई बार बेहतर रहा।

तथ्यात्मक तुलना करें तो भारत दुनिया में महिला प्रतिनिधित्व के मामले में काफी पीछे है। रवांडा में संसद में महिलाओं की भागीदारी 61 प्रतिशत से अधिक है। मेक्सिको लगभग 50 प्रतिशत के करीब है। स्वीडन, नॉर्वे और फिनलैंड में यह 45 से 47 प्रतिशत के बीच है। दक्षिण एशिया में भी कई देशों का प्रदर्शन बेहतर है। भारत 13.6 प्रतिशत के साथ विश्व औसत से काफी नीचे है। यह स्थिति उस देश के लिए चिंताजनक है जो नारी शक्ति की बात करता है और विश्वगुरु बनने का सपना देखता है।

समाधान भी स्पष्ट हैं। राजनीतिक दलों को अपने संविधान में दर्ज 33 प्रतिशत प्रतिनिधित्व को तुरंत लागू करना चाहिए। टिकट वितरण समितियों में महिलाओं की अनिवार्य भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए। महिला उम्मीदवारों के लिए आर्थिक सहायता और चुनावी संसाधनों की व्यवस्था होनी चाहिए। चुनाव आयोग को प्रत्येक दल से महिला उम्मीदवारों और निर्वाचित प्रतिनिधियों का विस्तृत डेटा सार्वजनिक कराने की व्यवस्था करनी चाहिए। आखिरकार, लोकतंत्र केवल वोट देने का अधिकार नहीं, बल्कि निर्णय लेने में समान भागीदारी का भी नाम है। आधी आबादी को दस प्रतिशत की छत देकर राजनीति ने लोकतंत्र की ऊंचाई सीमित कर दी है। अब समय आ गया है कि यह छत ऊंची की जाए और प्रतिनिधित्व के दरवाजे सचमुच खोले जाएं।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

बरसात में सड़कों की सेहत जांचना - प्रयोग या मजबूरी?

चालीस हजार किमी सड़क का डिजिटल हेल्थ कार्ड बनाएगा भविष्य

हर साल जून आते ही सड़कों की हालत बिगड़ने लगती है। गड्ढे गहरे हो जाते हैं, डामर उखड़ जाता है और वाहन चालक कीचड़ तथा पानी से जूझते हुए सफर तय करते हैं। बरसात को सड़क विभाग की असफलता का मौसम कहा जाता है, पर इस बार तस्वीर बदलने की तैयारी है। लोक निर्माण विभाग ने चालीस हजार किलोमीटर सड़कों की सेहत जांचने के लिए वैज्ञानिक सर्वे शुरू करने का फैसला लिया है। यह सर्वे केवल आंखों से देखने का नहीं, बल्कि डिजिटल तकनीक से सड़क का हेल्थ कार्ड बनाने का प्रयोग है। सवाल यह है कि बरसात के मौसम में सड़क की सेहत जांचना सही समय है या यह एक मजबूरी भरा प्रयोग है।

सड़क की सेहत जांचने का मतलब क्या है? अब तक सड़क खराब होने के बाद उसकी मरम्मत होती थी। अधिकारी मौके पर जाकर गड्ढे गिनते थे, ठेकेदार टेंडर लेते थे और काम पूरा होने तक मानसून निकल जाता था। नतीजा हर साल वही गड्ढे और वही शिकायतें रहती थीं। अब प्रणाली बदल रही है। नई योजना के तहत सड़क की लंबाई, चौड़ाई, सतह की स्थिति, ट्रैफिक लोड, पुल, कल्वर्ट, साइन बोर्ड और सिग्नल जैसी हर संपत्ति का डेटा एकत्र किया जाएगा। इस डेटा के आधार पर हर सड़क का डिजिटल हेल्थ कार्ड बनेगा। जैसे इंसान का हेल्थ कार्ड बताता है कि शरीर में कहां कमजोरी है, वैसे ही सड़क का हेल्थ कार्ड बताएगा कि कौन-सा हिस्सा कितना कमजोर है, कहां दरार है, कहां पानी भरता है और कहां ट्रैफिक का दबाव सबसे ज्यादा है।

बरसात में सर्वे करने को लेकर सवाल उठना स्वाभाविक है, क्योंकि गीली सतह पर दरारें और गड्ढे ठीक से नहीं दिखते। डामर का परीक्षण करना भी कठिन होता है। पर विशेषज्ञ मानते हैं कि बरसात ही वह समय है जब सड़क की असली कमजोरी सामने आती है। सूखे मौसम में जो सड़क मजबूत दिखती है, वही बरसात में पानी सोखकर बैठ जाती है। ड्रेनेज सिस्टम फेल हो जाता है और नींव कमजोर पड़ जाती है। अगर इसी समय डेटा लिया जाए तो पता चल जाएगा कि कौन-सी सड़क अगले साल टूटेगी और कौन-सी पांच साल तक टिकेगी। यह प्रिवेंटिव मेंटेनेंस का सिद्धांत है, यानी बीमारी होने से पहले इलाज करना।

इस प्रयोग की सबसे बड़ी ताकत तकनीक है। सर्वे के लिए लेजर स्कैनर, जीपीएस, कैमरा और सेंसर लगे वाहनों का इस्तेमाल होगा। यह वाहन सड़क पर चलकर हर मीटर की तस्वीर लेगा, सतह की खुरदरापन मापेगा, गड्ढों की गहराई दर्ज करेगा और डेटा सीधे सर्वर पर भेजेगा। पुराने तरीके में एक किलोमीटर सड़क जांचने में एक दिन लगता था, जबकि मशीन एक घंटे में दस किलोमीटर तक का स्कैन कर सकती है। चालीस हजार किलोमीटर का नेटवर्क दो चरणों में पूरा होगा। पहले चरण में स्टेट हाईवे, मुख्य जिला मार्ग और अन्य जिला मार्ग शामिल होंगे। दूसरे चरण में दस हजार किलोमीटर ग्रामीण सड़कें जोड़ी जाएंगी। परियोजना पर बीस से पच्चीस करोड़ रुपये खर्च होने का अनुमान है, पर विशेषज्ञों का मानना है कि यह एक बार का निवेश है, जो भविष्य में मरम्मत पर होने वाले करोड़ों रुपये बचा सकता है।

डिजिटल हेल्थ कार्ड बनने के बाद फायदा सीधा जनता को मिलेगा। अभी एक सड़क खराब होती है तो लोग शिकायत करते हैं, फिर अधिकारी निरीक्षण करते हैं, फाइल चलती है और टेंडर की प्रक्रिया शुरू होती है। इस चक्र में महीनों निकल जाते हैं। हेल्थ कार्ड प्रणाली में जैसे ही सर्वर बताएगा कि किसी सड़क का कंडीशन इंडेक्स निर्धारित स्तर से नीचे चला गया है, वैसे ही मरम्मत का अलर्ट जारी हो जाएगा। प्राथमिकता तय होगी कि पहले किस सड़क को ठीक करना है। ट्रैफिक लोड और दुर्घटना की संभावना के आधार पर रैंकिंग होगी। इससे खर्च में पारदर्शिता आएगी, क्योंकि हर सड़क का डेटा ऑनलाइन उपलब्ध रहेगा और कोई भी देख सकेगा कि कहां कितना पैसा खर्च हुआ और क्या काम किया गया।

बरसात को प्रयोग का समय चुनने के पीछे एक और तर्क है - समस्या की जड़ तक पहुंचना। सड़क मुख्य रूप से तीन कारणों से खराब होती है - खराब निर्माण, अत्यधिक ट्रैफिक लोड और पानी की निकासी का अभाव। सूखे मौसम में केवल ऊपरी सतह दिखाई देती है, लेकिन बरसात में पानी के बहाव से पता चल जाता है कि कल्वर्ट जाम है या साइड ड्रेन अधूरी है। सर्वे के दौरान यह भी दर्ज होगा कि पानी कहां रुक रहा है और कहां सड़क धंस रही है। यह जानकारी भविष्य में नई सड़कें बनाने और पुरानी सड़कों के सुधार में उपयोगी साबित होगी।

हालांकि प्रयोग तभी सफल होगा जब डेटा का उपयोग ईमानदारी से किया जाए। अक्सर सर्वे होते हैं, रिपोर्ट तैयार होती है, लेकिन फाइलों में धूल खाती रहती है। इस बार व्यवस्था ऐसी बनानी होगी कि हेल्थ कार्ड सार्वजनिक हो। हर जिले की वेबसाइट पर प्रत्येक सड़क का स्कोर दिखाई दे। आम आदमी अपने मोबाइल पर देख सके कि उसके गांव तक जाने वाली सड़क की स्थिति क्या है और उसकी मरम्मत कब होगी। पारदर्शिता से जवाबदेही बढ़ेगी और ठेकेदारों की लापरवाही भी कम होगी।

सड़क को देश की धमनियां कहा जाता है। धमनियों में रुकावट आए तो पूरा शरीर बीमार पड़ जाता है। बरसात में सड़क की सेहत जांचना अजीब जरूर लगता है, पर यही वह समय है जब सड़क अपनी सबसे कमजोर अवस्था में होती है। कमजोरी को उसी समय पहचान लेना ही समझदारी है। चालीस हजार किलोमीटर का यह सर्वे यदि सही ढंग से पूरा हुआ तो आने वाले वर्षों में प्रदेश की सड़कों का नक्शा बदल सकता है। गड्ढे कम होंगे, हादसे कम होंगे और जनता का भरोसा बढ़ेगा। यह प्रयोग तभी सार्थक होगा जब हर नागरिक इसे अपना समझे, क्योंकि अच्छी सड़कें केवल सुविधा नहीं, बल्कि विकास की पहली शर्त हैं।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)

स्वदेशी ओट्स ने तोड़ा आयात का चक्र ...

नर्मदापुरम के वैज्ञानिकों की सात साल की तपस्या से भारत बना आत्मनिर्भर

देश की थाली में अब तक ओट्स यानी जई का नाम सुनते ही दिमाग में ऑस्ट्रेलिया और ब्राजील की तस्वीर उभरती थी। सुपरफूड के नाम पर बिकने वाला यह अनाज भारत के बाजारों में विदेशी ब्रांडों के पैकेट में मिलता था। कीमत अधिक थी और मुनाफा विदेशी कंपनियों को जाता था। हर साल हजारों टन ओट्स का आयात होता था, जिससे देश के विदेशी मुद्रा भंडार पर बोझ पड़ता था। किसान गेहूं और धान की खेती में लगे रहते थे और पोषक अनाज की खेती पर अपेक्षित ध्यान नहीं जाता था। इसी निर्भरता को तोड़ने के लिए नर्मदापुरम स्थित पवारखेड़ा के गेहूं अनुसंधान केंद्र के वैज्ञानिकों ने सात साल तक निरंतर शोध किया और आज परिणाम सामने है। स्वदेशी ओट्स की किस्म विकसित हो चुकी है, जिसका बीज तैयार हो गया है और मध्यप्रदेश के किसान 500 एकड़ जमीन पर इसकी खेती कर रहे हैं। यह केवल एक फसल की सफलता नहीं है, बल्कि भारत की कृषि आत्मनिर्भरता की नई कहानी है।

स्वदेशी ओट्स की सबसे बड़ी विशेषता इसके पोषक तत्व हैं। वैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार 100 ग्राम ओट्स में 16.78 ग्राम प्रोटीन, 6.77 ग्राम वसा, 66.8 ग्राम कार्बोहाइड्रेट, 10.21 ग्राम फाइबर और 4.58 ग्राम बीटा ग्लूकान पाया जाता है। फाइबर की मात्रा अधिक होने के कारण यह हृदय रोग और मोटापे में लाभकारी माना जाता है। मधुमेह के रोगियों के लिए भी यह उपयोगी है। पहले भारत में बिकने वाला ओट्स आयातित होता था और उसकी कीमत अधिक होने के कारण आम आदमी तक नहीं पहुंच पाता था। अब स्वदेशी किस्म तैयार होने से लागत कम होगी और यह पोषक अनाज आम लोगों की थाली तक पहुंच सकेगा। साथ ही विदेशी मुद्रा की बचत होगी, जो देश के विकास में काम आएगी।

नर्मदापुरम के पवारखेड़ा स्थित भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद का गेहूं अनुसंधान केंद्र वर्षों से गेहूं की उन्नत किस्में विकसित करने के लिए जाना जाता रहा है। सात साल पहले केंद्र के वैज्ञानिकों ने एक नया लक्ष्य तय किया कि विदेशों से आने वाले ओट्स का विकल्प भारत की मिट्टी में तैयार किया जाए। शोध शुरू हुआ, 2023 में ओट्स के बीज तैयार किए गए और परीक्षण के बाद किस्म को अंतिम रूप दिया गया। नई किस्म का नाम जेडब्ल्यू ओट्स-01 रखा गया है। यह किस्म न केवल भारत की जलवायु के अनुकूल है, बल्कि उत्पादन भी अधिक देती है। वैज्ञानिकों के अनुसार इस किस्म को विकसित करने में ऐसे गुणों का समावेश किया गया है कि बीज कम समय में पक जाए और रोग प्रतिरोधक क्षमता भी अधिक रहे। अनुसंधान केंद्र ने 2017 से ही इस परियोजना पर काम शुरू किया था। शुरुआती वर्षों में बीज की गुणवत्ता पर काम

हुआ, फिर खेतों में परीक्षण किए गए और अंत में किसानों के साथ मिलकर बड़े पैमाने पर खेती की गई। आज परिणाम यह है कि मध्यप्रदेश के किसान इस स्वदेशी ओट्स को अपना रहे हैं और उत्पादन से संतुष्ट हैं।

किसानों के लिए यह नई किस्म वरदान बनकर आई है। नर्मदापुरम और आसपास के क्षेत्रों में किसान पहले गेहूं और धान की खेती करते थे, पर मंडियों में अपेक्षित भाव नहीं मिलने के कारण आय सीमित रहती थी। ओट्स की खेती से उन्हें नया विकल्प मिला है। प्रति एकड़ अच्छी पैदावार हो रही है और बाजार में मांग भी बढ़ रही है। अनुसंधान केंद्र के वैज्ञानिक किसानों को बीज उपलब्ध करा रहे हैं और खेती की विधि समझा रहे हैं। किसान भी प्रयोग के बाद संतुष्ट हैं, क्योंकि फसल कम समय में तैयार हो जाती है और रखरखाव भी अपेक्षाकृत कम लगता है। सरकार ने भी इस दिशा में कदम बढ़ाए हैं और किसानों को प्रोत्साहन देने की योजना बनाई है, ताकि अधिक से अधिक किसान पारंपरिक फसलों के साथ पोषक अनाज की खेती भी करें।

स्वदेशी ओट्स की सफलता का असर केवल कृषि तक सीमित नहीं है, बल्कि उद्योग और बाजार पर भी पड़ा है। अब भारत की कई कंपनियां स्वदेशी ओट्स खरीदकर विभिन्न उत्पाद बना रही हैं। ओट्स का दलिया, बिस्किट, आटा और रेडी-टू-ईट उत्पाद बाजार में आ रहे हैं। पहले कंपनियां विदेश से ओट्स मंगाती थीं और भारत में पैकिंग करके बेचती थीं। अब कच्चा माल देश में ही उपलब्ध होगा, जिससे उत्पादन लागत घटेगी और उत्पादों की कीमत भी कम होगी। इससे उपभोक्ता को लाभ मिलेगा और कंपनियों को भी फायदा होगा। साथ ही ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के नए अवसर पैदा होंगे, क्योंकि ओट्स की प्रोसेसिंग और पैकेजिंग के लिए नई इकाइयां स्थापित होंगी।

भारत सरकार की नीति भी अब मोटे और पोषक अनाजों को बढ़ावा देने की है। ओट्स को सुपरफूड कहा जाता है, क्योंकि इसमें प्रोटीन, फाइबर, विटामिन और खनिज भरपूर मात्रा में होते हैं। शहरी जीवन में फास्ट फूड और जंक फूड के बढ़ते चलन के कारण मोटापा और हृदय रोग बढ़ रहे हैं। ऐसे में ओट्स जैसे अनाज लोगों की सेहत सुधारने में मदद करेंगे। नर्मदापुरम के वैज्ञानिकों की यह उपलब्धि देश की कृषि वैज्ञानिक क्षमता का उत्कृष्ट उदाहरण है। सात साल का शोध आसान नहीं था, पर निरंतर प्रयासों ने सफलता दिलाई। अब अनुसंधान केंद्र इस किस्म को राजस्थान, हरियाणा, पंजाब और उत्तरप्रदेश जैसे राज्यों तक पहुंचाने की तैयारी कर रहा है। यदि यह प्रयास सफल रहा तो आने वाले वर्षों में भारत ओट्स के आयात को समाप्त कर निर्यातक देश के रूप में भी पहचान बना सकता है। स्वदेशी ओट्स की यह कहानी केवल एक अनाज की नहीं, बल्कि किसानों, वैज्ञानिकों और नीति निर्माताओं के सामूहिक प्रयास की कहानी है, जिसने आत्मनिर्भर भारत के सपने को एक नई मजबूती दी है।

(नईदुनिया संपादकीय डेस्क)